स्मृतियों के वातायतन से

सत्यव्रत शास्त्री

जीवन में कतिपय क्षण इस तरह के आते हैं जब हृदय मुखरित हो उठता है। आज जब अपने अतीत की ओर झांकता हूं तो स्मृतियों की एक लम्बी कतार को अपने सामने खड़ी पाता हूं। जीवन के बीते आठ दशकों में मैंने क्या पाया इसका लेखा–जोखा मैंने कभी किया नहीं। इसका समय ही मेरे पास नहीं था। मन में नये–नये विचारों की आंधी चलती रहती थी। नई–नई संकल्पनाएं और उद्भावनाएं हिलोरें लेती रहती थीं और उन्हीं में खोया–सा मैं जीवनपथ पर अग्रसर होता रहा हूं। आचार्य मम्मट ने शक्ति, जिसे उनके पूर्व के आचार्य दण्डी ने प्रतिभा की संज्ञा दी थी, लोक–शास्त्र–काव्य आदि के अवेक्षण से जनित निपुणता और काव्य के मर्मज्ञ विद्वज्जनों से शिक्षा प्राप्त कर काव्य रचना का अभ्यास– इन सभी के समवाय को काव्य का उद्भव–कारण माना है– इति हेतुस्तदुद्भवे। इनमें से सिवाय एक के शायद मेरे पास कुछ भी नहीं था जब मेरी पहली कविता बारह वर्ष की अवस्था में प्रकाशित हुई। और तब एक यात्रा प्रारम्भ हुई जो अनेक महाकाव्यों, खण्डकाव्यों, पत्रकाव्यों तथा प्रबन्धकाव्यों के पड़ावों को पार कर आगे बढ़ती रही।

बहुत समय पूर्व मैंने एक निबन्ध लिखा था– 'दि मेकिंग ऑफ ए पोयट' कवि कैसे बनता है, उसमें उपसंहार में मैंने कहा था कि कवि बनता नहीं है, किन्हीं घटक तत्त्वों से उसकी संरचना नहीं होती, वह स्व–रचित होता है। श्रुति ने ठीक ही उसे 'स्वयंभू' कहा है– कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः। यह सारी सृष्टि स्वयंभू, प्रजापति, ने रची है। कवि भी अपनी सृष्टि रचता है, वह भी प्रजापति है– कविरेव प्रजापतिः, वह जिस प्रकार का संसार रचना चाहता है, रच लेता है– यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते। यही कारण है कि अनेक बार अपनी सृष्टि पर वह स्वयं विस्मित होकर कह उठता है यह मैंने क्या कह दिया– किमिदं व्याहृतं मया? उसके विस्मय के ये क्षण आत्मविस्मृति के क्षण होते हैं। इन्हीं क्षणों में तो उसने अपने संसार की रचना की है। उसके भीतरी संसार को उसके बाहर का संसार चकित होकर देखता है, अपने प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त भी बहुत कुछ वह उसमें पाता है। वह उस ओर उन्मुख हो लेता है और कुछ समय के लिये ही सही उससे एकाकार हो जाता है। यही वह प्रक्रिया है जिसे साधारणीकरण की संज्ञा दी जा सकती है।

मेरा लेखन दोनों प्रकार का रहा है– मौलिक भी और समीक्षात्मक भी। किसी ने मुझसे कभी प्रश्न किया था कि आप अपने को किस रूप में देखना पसन्द करते हैं कवि के या समीक्षक के। मैंने उत्तर दिया था दोनों के। संस्कृत में समीक्षक के लिये एक बहुत सुन्दर शब्द है सहृदय। बिना सहृदय हुए समीक्षा नहीं की जा सकती। सहृदय वह है जिसका हृदय मूल लेखक के जैसा होता है– समानं हृदयं यस्य, मूल लेखक का समान धर्मा वह बनता है। मूल लेखक के हृदय की थाह लिये बिना उसके साथ न्याय नहीं हो सकता। वह क्या सोचता है, किन परिस्थितियों में, किस मनोभाव में उसने रचना की यह जानना आवश्यक है। कवि मनोभावों के उद्वेग में लिखता है। किस शब्द का कहां और कैसे प्रयोग किया जाय यह उसकी रचना करते समय की प्रक्रिया नहीं होती। उसे तो बस लिखना है। शब्द उस प्रक्रिया के सहचर बन स्वतः आते जाते हैं, प्राकृतिक निर्झर की तरह। उनका औचित्य–अनौचित्य उसका विषय नहीं है। यह सहृदय का है। जहां रचनाकार की भूमिका समाप्त होती है, वहीं से सहृदय की प्रारम्भ होती है। मैंने श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम् के एक पद्य में चमकौर साहब के युद्ध में गुरु के पुत्र अजीतसिंह के शत्रुओं के मध्य बादलों के बीच बिजली की तरह चमकने को दर्शाने के लिये शम्पा शब्द का प्रयोग किया था– घनावलीमध्यगतेव

कवि जब तक अपने संसार में रमा रहता है, प्रसन्न रहता है पर जैसे ही उसका ध्यान भंग होता है और बाहर के संसार की ओर उसकी दृष्टि जाती है तो उसकी विषमताओं और विसंगतियों से वह व्यथित हो उठता है। नियति क्या खेल खेलती है कि जिसका जीवन बड़े–बड़े महलों और अट्टालिकाओं को बनाते बीतता है वह स्वयं एक झोपड़ी में रहता है। उन महलों और अट्टालिकाओं में रहने वालों की वेशभूषा देखते ही बनती है पर उस बिचारे दिन–रात खटने वाले श्रमिक के तन पर फटे–पुराने मैले–कुचैले कपड़े ही होते हैं।

हर्म्याणां रचनाविधावनुदिनं श्रान्तस्य मे हन्त भो
वासः पर्णकुटी विशीर्णमलिनं वासो ममाच्छादनम्।

अपने इस पवित्र देश में जिसमें कभी देवताओं ने भी जन्म लेने की कामना की थी–

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।।

पारस्परिक विद्वेष, कलह, कवि के कोमल मन को कहीं गहरे तक आहत कर जाते हैं और उसका स्वर इन शब्दों में सुनाई दे जाता है–

देशोऽयं महितः सुमहतामावासभूमिः शुभो
नानातीर्थजलान्यमुष्य सततं नीरजानां तन्वते।
पाथोधिः स्वपयोभिरेनमनिशं प्रक्षालयत्युन्नतम्
एवं सत्यपि मानसी मलिनता नैतज्जनान् मुञ्चति।।

पत्रकाव्यम्, द्वितीयोमागः पृष्ठांकः १६२

मेरी शिक्षा–दीक्षा एक वैयाकरण और भाषाविद् के रूप में हुई इसलिये भाषा में विकृति, उसके स्वरूप के साथ छेड़छाड़, सरलीकरण के नाम पर उसमें नये–नये प्रयोग मुझे कभी रास नहीं आये। हर भाषा की अपनी पहचान होती है, उसका एक स्वरूप होता है। उसे इतना अधिक तोड़ना–मरोड़ना नहीं चाहिये कि उसका स्वरूप ही धूमिल होने लगे और वह किसी और भाषा की छायामात्र लगने लगे। संस्कृत संस्कृत ही है। उस में वह वहां जायगा– स कथयति यत् स तत्र गमिष्यति जैसी वाक्यावलि संस्कृत को स्वीकार्य नहीं हो सकती। जहां तक शब्दावलि का प्रश्न है, उसमें युग की आवश्यकता के अनुसार अन्य भाषाओं से शब्द लेने ही होंगे और नये शब्दों को गढ़ना ही होगा। संस्कृत में यह प्रवृत्ति कोई नहीं है। बहुत प्राचीन काल से ही इसने अन्य भाषाओं के शब्दों को आत्मसात् किया है। अरबी का कलम, फारसी का बन्दी और ग्रीक के होरा, आदि शब्द इसके उदाहरण हैं।

प्राचीन ग्रन्थों के निरन्तर मनन और परिशीलन से उनके अनेक वाक्य या शब्दांश मेरे स्मृतिकोष में स्थायी रूप ग्रहण कर गये हैं। जब भी कभी उस प्रकार के प्रकरण या प्रसंग का वर्णन करना होता है तो अनायास ही वे मेरे स्मृतिकोष से बाहर आ जाते हैं और मेरी रचना में स्थान ग्रहण कर लेते हैं। महामनीषी डॉ. राघवन् ने मेरी एक कृति में इस प्रवृत्ति को देख उसके प्राक्कथन में उन स्थलों को रत्नजटित आभूषणों की संज्ञा दी है।

संस्कृत वाङ्मय की यह विचित्र स्थिति है कि जहां कतिपय विधाओं जैसे काव्य, नाट्य, समीक्षा आदि में यह बहुत समृद्ध है, वहां कतिपय अन्य में यह अत्यन्त दरिद्र है। डायरी साहित्य का इसमें अत्यन्ताभाव है, आत्मकथा भी लगभग न के बराबर है। जो दो–एक हैं भी वे भी अंग्रेजी

भाषा में प्रणीत आत्मकथाओं के अनुवाद ही हैं। वनजीवनम् नाम से एक आत्मकथा सुनने में आई है जो शायद अप्रकाशित है क्योंकि किसी के देखने में वह नहीं आई। पत्रसंग्रह भी एकाध ही हैं, उनमें भी पद्यमय पत्रसंग्रह पत्रकाव्यम् तो मेरा ही है। संस्कृत वाङ्मय की इस कमी को दूर करने की इच्छा से ही मैंने एक साहित्यिक डायरी 'दिने दिने याति मदीयजीवितम्" शीर्षक से प्रकाशित की है। "भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र" शीर्षक से मेरी आत्मकथा का प्रणयन चल रहा है जिसमें गत साठ–सत्तर वर्षों की अनेक अनहोनी घटनाओं के संजोने का प्रयास है। विश्व की प्रमुख सांस्कृतिक धाराओं पर "विश्वमहाकाव्यम्" शीर्षक से नाना खण्डों का एक महाकाव्य क्रम भी निर्माणाधीन है। उसी के साथ ही निर्माणाधीन है योरुप महाद्वीप के अपने–अपने देशों के मूर्धन्य कवियों की प्रतिनिधि कविताओं का संस्कृत में पद्यानुवाद।

और मेरी कोई रुचि रही न रही हो देश–विदेश में पर्यटन की रुचि अवश्य रही है। वहां के दर्शनीय स्थलों को देखना, वहां के लोगों से मिलना, उनकी जीवन–पद्धति को निकट से जानने की उत्सुकता मेरे मन में सदैव रही है। उसी का ही परिणाम है कि मैंने अनेक यात्रा संस्मरण लिखे, संस्कृत में भी और हिन्दी और अंग्रेज़ी में भी। संस्कृत में यात्रा–संस्मरण बहुत ही कम हैं और उनमें भी विदेश–यात्रा संस्मरण तो और भी कम। जो दो एक हैं भी वे भी हाल की ही देन हैं। इस दिशा में संस्कृत वाङ्मय को समृद्ध करने का मेरा प्रयास रहा है। संस्कृत में मेरे दो यात्रा संस्मरण हैं, एक है शर्मण्यदेशः सुतरां विभाति जिसमें १६७५ में मेरी पश्चिमी जर्मनी की राजकीय यात्रा का वर्णन है और दूसरा है थाईदेशविलासम्, जो १६७७–७६ के बीच मेरे थाई देश के प्रवासकाल में वहां के विभिन्न दर्शनीय स्थानों के विवरण के साथ–साथ वहां की संस्कृति तथा इतिहास पर भी प्रकाश डालता है।

इसकी रचना का भी एक विचित्र इतिहास है जिसे मैं यहां प्रस्तुत करना चाहूंगा। अपने बैंकाक प्रवास में मैं एक दिन वहां के राष्ट्रिय पुस्तकालय, नैशनल लाइब्रेरी, में गया। वहां मेरी तत्कालीन पाण्डुलिपि विभागाध्यक्ष प्रो. छूसक दीपयगसौर्न से भेंट हुई। बातचीत के प्रसंग में मैंने उनसे पूछा कि क्या आपके पुस्तकालय में थाईलैण्ड पर संस्कृत में प्रकाशित रूप में या पाण्डुलिपि रूप में कोई पुस्तक है। उन्होंने कहा– नहीं। फिर कुछ रुक कर मुस्कुराते हुए कहा कि आचार्यवर, आप ही क्यों नहीं इसे लिख देते। उनकी यह बात मेरे मन में घर कर गई। उनसे मिल कर जब मैं अपने आवास में आया तो अनायास ही पांच पद्यों की रचना कर डाली। दूसरे दिन कक्षा थी जिसमें राजकुमारी पढ़ने आती थीं। वहां कक्षा निरन्तर दो घण्टे चलती है, अपने यहां की तरह पैंतालीस या पचास मिनट का पीरियड वहां नहीं होता। इतनी देर कक्षा चलने पर जहां पढ़ाने वाला थक जाता है वहां पढ़ने वाला भी थकावट अनुभव करे यह अस्वाभाविक नहीं। कक्षा समाप्त होने पर मैंने राजकुमारी को बताया कि मैंने उनके देश पर पांच पद्यों की रचना की है। मेरा संकल्प एक पूरा काव्य लिखने का ही है। मैंने उनसे यह भी कहा कि यदि वे बहुत थकी न हों और उनके पास समय हो तो वे पद्य में उन्हें सुनाना चाहूँगा। उन्होंने कहा मैं अवश्य सुनना चाहूंगी। पद्य उन्होंने सुने और बहुत प्रसन्न हुईं। एक पद्य में महाराज का वर्णन था। वह उन्हें बहुत पसन्द आया। वे बोलीं आप काव्य अवश्य पूर्ण करें। मैं इसका थाई पद्यानुवाद करूँगी। यह मेरे लिये बहुत बड़ी बात थी। एक देश की महाराजकुमारी अनुवाद करने की बात कर रही थीं। मैंने काव्य पूर्ण किया। पूर्ण हो जाने पर उसे राजमहल में दे दिया। महाराजकुमारी ने पद्यानुवाद तो नहीं लेकिन गद्यानुवाद उसका कर दिया। उनके इस अनुवाद के साथ काव्य ग्रन्थ बाद में प्रकाशित हुआ। जिन पांच पद्यों की मैंने सबसे पहले रचना की थी उनमें दो–एक यहां प्रस्तुत कर रहा हूं–

अस्त्येशियानामनि सुप्रसिद्धे
द्वीपे विशालेऽति विशालकीर्तिः।
आग्नेयदिङ्मण्डलमौलिभूतो
देशोऽतिरम्यो भुवि थाईलैण्डः।।
श्यामेतिनामातिपुराणमस्य
ख्यातं पुराणादिषु यद्विहाय।
थाईतिजात्यध्युषितत्वहेतो–
र्यं थाईलैण्डं कथयन्ति लोकाः।।
राजा प्रजारञ्जनमादधानः
सर्वात्मना बुद्धवचःप्रमाणः।
अतुल्यतेजःपदवीं दधानः
प्रशास्ति यं भूमिबलाभिधानः।।
अकृष्टपच्यं खलु यत्र सस्यं
रम्यास्तथा शाद्वलभूमिभागाः।
मन्दं प्रवान्तश्च यदीयवाता
आगन्तुकानां रमयन्ति चेतः।।

हिन्दी में मेरा एक बृहदाकार सवा चार सौ पृष्ठों का यात्रा–संस्मरण अभी पांच दिन पूर्व ही प्रकाशित हुआ है। इसके शीर्षक के रूप में 'चरन् वै मधु विन्दति' इस श्रुति वाक्य को ही मैंने अपनाया है। इससे कदाचित् यह भ्रान्ति न हो जाय कि ग्रंथ संस्कृत में है मैंने उक्त वाक्य के आशय की एक पंक्ति 'चलता गया मधु मिलता गया' श्रुति वाक्य के नीचे दे दिया है। उसके नीचे एक और पंक्ति विषय के स्पष्टीकरण को ध्यान में रख दी है– विदेश की सांस्कृतिक यात्राओं की गाथा। इसमें पूर्व और पश्चिम के सत्रह देशों की यात्राओं का वर्णन है। इसके साथ कतिपय विदेशी विद्वानों से भेंट के तथा उनसे चर्चा के संस्मरण हैं। चालीस के लगभग चित्र भी इसमें हैं। जैसा कि उपरिनिर्दिष्ट उपशीर्षक से स्पष्ट है मेरी सभी यात्राएं सांस्कृतिक यात्राएं थीं। जिस किसी भी रूप में मैं बाहर के देशों में गया मैंने उस अवसर को तत्तद्देश के भीतर झांकने के अवसर के रूप में उपयोग किया और भारत के साथ उसके सम्बन्ध को तलाशने और परखने का प्रयास मैंने किया। यह भी हुआ कि एक ही देश में मैं अनेक बार गया और हर बार मैंने नई जानकारी हासिल करने का प्रयास किया। हंगरी में मैं चार बार गया, इण्डोनेशिया, अमेरिका और इटली में तीन बार, जापान में दो बार। हो सकता है मैं विद्वानों से दूसरी या तीसरी बार मिला या उन्हीं स्थानों पर दूसरी या तीसरी गया पर पहले की यात्रा या यात्राओं में जिन पक्षों पर मेरी दृष्टि गई थी उनसे अलग पक्षों पर बाद की यात्रा या यात्राओं में गई। इसलिये आवृत्ति नहीं हो पाई। यही कारण है कि एक ही देश की हर बार की यात्रा का स्वरूप अलग है। उस देश के बारे में होते हुए भी दूसरा या तीसरा यात्रा संस्मरण एक स्वतंत्र संस्मरण है जिसका अपना अलग अस्तित्व है। यह कृति गागर में सागर के समान है। इसमें कितनी जानकारी है यह इसे पढ़ने पर ही अनुभव किया जा सकता है। उदाहरणार्थ दो–एक प्रसंग वहां के उद्धृत कर रहा हूं। हंगरी में बालातोन नाम की एक झील है जिसका जल कुछ–कुछ समय के बाद रंग बदलता रहता है, अभी हरा है तो अभी पीला हो जायगा फिर लाल हो जायगा। यह तो एक बात है ही उसके साथ यह भी है कि वह

अत्यन्त स्वास्थ्यवर्धक है। १६२६ में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर जब बहुत अस्वस्थ हो गये थे तो स्वास्थ्य लाभ के लिए वहीं गये थे। उसी के पास ही उन्होंने एक पौधा भी रोपा था। उसके विषय में उन्होंने एक पद्य लिखा था जिसमें उसे सम्बोधित कर उन्होंने कहा था–

जब मैं इस पृथ्वी पर नहीं रहूंगा तो मेरे वृक्ष
तुम्हारे स्रोत के सदा वे नये उगने वाले पत्ते
चुपके से कान में यात्री से कह दें
कि कवि जब तक जिया उसने प्रेम किया।

यह पद्य मूल अंग्रेज़ी तथा हंगेरियन अनुवाद के साथ वृक्ष के साथ के एक पत्थर पर उत्कीर्ण है। गुरुदेव ने बालातोन झील के बारे में अपने भाव भी अभिव्यक्त किये थे। वे उन्हीं के हस्तलेख में एक दस्तावेज़ में जिसकी प्रति मैंने आरकारव्ज़ से प्राप्त की थी, प्रस्तुत पुस्तक मैं चित्र प्रतिलिपि के रूप में मैंने प्रस्तुत किया है। हंगरी के रामायण के दो अनुवादकों यानोशी और योझेफ़ वैकैर्दी में से यानोशी ने अपने को उन प्रसंगों तक सीमित रखा जिनमें सीता की विशिष्ट भूमिका है। रामायणीय पात्रों में से सीता से वे बहुत अधिक प्रभावित हैं। रामायण वस्तुतः सीतायन ही है। उनका यह कथन बरबस वाल्मीकि की रामायण–विषयक उक्ति सीतायाश्चरितं महत् – रामायण सीता के महान् चरित्र को वर्णित करता है की ओर ध्यान आकृष्ट करा देता है।

बर्मा, जिसका नया नाम म्यन्मा, है में जाने पर पता चलता है कि वहां दिन–वार किसी न किसी दिशा का प्रतिनिधित्व करते हैं और कोई प्रतीक चिह्न उनका होता है– सोमवार पूर्व दिशा का प्रतिनिधित्व करता है। इसका प्रतीक चिह्न व्याघ्र है। मंगलवार दक्षिणपूर्व दिशा का प्रतिनिधित्व करता है। इसका प्रतीक चिह्न सिंह है। बुधवार दो भागों में विभक्त है प्रातः और सायम्। प्रातः दक्षिण दिशा का प्रतिनिधित्व करता है। उसका प्रतीक चिह्न कमलों वाला हाथी है । सायम् उत्तर पश्चिम दिशा का प्रतिनिधित्व करता है। इसका प्रतीक चिह्न एक दांत वाला हाथी है। इसी तरह शेष दिन–वार दिशाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और अलग–अलग प्रतीक चिन्ह उनके हैं।

मांडले का राजसिंहासन अंग्रेज १८८६ में कलकत्ता ले गये थे। संग्रहालय में उन्होंने उसे रखा था। १६४८ में भारत सरकार ने उसे म्यन्मा को लौटा दिया था। उससे सम्बद्ध एक कथा है जो इस प्रकार है–

एक उड़ने वाला केसरी सिंह एक दिन अपनी रत्नों की गुफा से आहार की तलाश में निकला। उसी समय उसी के लिए निकला उड़ने वाला एक हाथी भी। चूँकि दोनों का आहार हल्के बादल ही थे, उनमें विवाद छिड़ गया जो बाद में युद्ध में परिणत हो गया। जब युद्ध चल ही रहा था तभी एक देव वहां प्रकट हुआ। जो हो रहा था उसे देख वह नाचने–गाने लगा। अपने झाँझ पर उसने छोटे–छोटे पायजेब बाँध रखे थे। उसे देख दोनों पशुओं का ध्यान उधर बँट गया और तत्काल उन्होंने लड़ना बन्द कर दिया। यह स्मरणीय कलह और उसकी सुखद परिणति पूर्वोक्त सिंहासन पर चित्रित हैं। यह राजसत्ता, उसकी सम्प्रभुता तथा राज्य में सुख–शान्ति का प्रतीक है।

मेरी रुचि का एक अन्य विषय रहा है पाश्चात्य विद्वानों के संस्कृत लेखन का संग्रह। जहां कहीं से भी मुझे इस विषय में सूचना मिली वहीं से मैंने तद्विषयक सामग्री प्राप्त करने का प्रयास किया। इसी का ही यह परिणाम है कि जर्मन भाषा की अनेक सूक्तियों का जर्मनी के ही एक विद्वान् द्वारा संस्कृत में किया गया अनुवाद पुस्तकाकार में मैंने इधर प्रकाशित किया है जो अपने ढंग का पहला कार्य है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने अपने मित्रों और परिचितों को संस्कृत में पत्र भी लिखे। अनेक आलोचनात्मक सुदीर्घ निबन्ध भी उन्होंने संस्कृत भाषा के माध्यम से लिखे। उनकी

प्रतिलिपियां मेरे पास हैं जिन्हें संस्कृत राइटिंग्स ऑफ योरुपियन स्कालर्स' शीर्षक से पुस्तिका के रूप में मैंने हाल ही में प्रकाशित किया है।

यह मेरे यात्री स्वभाव का ही परिचायक है कि चलते–चलते मैं उन दिशाओं की ओर भी चल पड़ा हूं जहां कोई गया नहीं था। मेरे लिये वहां कोई बना–बनाया रास्ता नहीं था। मुझे रास्ता बनाना भी था और चलना भी। वाल्मीकि–रामायण तथा योगवासिष्ठ का भाषा–शास्त्रीय अध्ययन, संस्कृत के पर्यायवाची शब्दों में सूक्ष्म अर्थ भेद, केवल संस्कृत शब्दावली के ही आधार पर भारतीय सांस्कृतिक चिन्तन का चित्रण, दक्षिण–पूर्व एशिया की संस्कृत–मूलक शब्दावली जैसे मेरे कुछ ऐसे ही कार्य हैं।

जीवन में एक ऐसा भी समय आता है जब मनुष्य कह उठता है काश! मैंने पहले ऐसा सोचा होता। साहित्यिक और सांस्कृतिक यात्री होने के नाते मैं विदेश के पचासों भारतीय विद्या विशेषज्ञों से मिला और उनसे अनेक विषयों पर सुदीर्घ चर्चा भी की। यह एक प्रकार से मेरे द्वारा लिया गया उनका साक्षात्कार ही होता था जिसमें वे अपना परिचय, उनकी भारतीय विद्या में रुचि, उनका अपने अमुक–अमुक गुरु से विशेष अध्ययन, उनकी ग्रन्थ–रचना, उनका पारिवारिक जीवन आदि अनेक विषय सम्मिलित होते थे। इधर कुछ वर्षों से मैंने उन चर्चाओं को लिपिबद्ध करना आरम्भ किया है। उसके लिये 'पाश्चात्य भारतीय विद्या विशेषज्ञों की कहानी उनकी अपनी जुबानी' शीर्षक भी मेरे मन में आ रहा है। मुझे इसका खेद है कि इसका विचार मेरे मन में बहुत देर से आया। जब से लिखना प्रारम्भ किया है उससे पहले मैं अनेक विद्वानों को मिल चुका था। उनके साथ की गई चर्चाओं का विवरण मेरे पास नहीं है। उनकी कहानी अनकही रह गई। कुछ यादें उसकी शेष हैं अस्पष्ट सी, धूमिल सी। उनके आधार पर लिखा नहीं जा सकता।

जब अपने अतीत की ओर झांकता हूं तो एक–एक कर स्मृति चित्र उभरते चले आते हैं। किस प्रकार पिताजी प्रातर्भ्रमण के समय लाहौर के लारेंस रोड पर चलते–चलते मुझे शब्दसिद्धि समझाते चलते थे, किस तरह बनारस में कबीर चौरा से गवर्नमैण्ट संस्कृत कालेज की ओर चलते–चलते गुरुवर पण्डित रघुनाथ शर्मा पाण्डेय वाक्यपदीय के गूढ़ रहस्यों की व्याख्या करते जाते थे और मेरे इस प्रश्न पर कि निघण्टु के रचयिता कौन हैं– प्रजापति या यास्क या पूर्वाचार्य तो झल्ला कर कह उठते थे कि क्यों इन व्यर्थ की चर्चाओं में पड़ते हो, किसने लिखा, क्या लिखा, कब लिखा, यह जानने का प्रयास करो, क्या लिखा, गुरुवर पण्डित ढुण्ढिराज शास्त्री कक्षा में आने पर ब्रह्मचारी रामस्वरूप, बाद में सन्यास लेने पर स्वामी रामानन्द को समाचार पत्र पढ़ने में तल्लीन देख झुंझला जाते थे और कहने लगते थे इसे नव्यन्याय कभी नहीं आएगा, यह समाचार पत्र पढ़ता है और तब सुनाने लगते थे महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री की कहानी जिन्होंने बारह वर्ष तक काशी में अपने अध्ययन काल में अपने कमरे में रखे एक बड़े मटके को घर से आये पत्रों को बिना पढ़े उसमें डालते जाने में उपयोग किया था और शास्त्र में ही अपने को केन्द्रित कर वह यश अर्जित किया था जिसकी कभी तुलना ही नहीं हो सकती।

दृश्य बदलता है। एक और चित्र मन में उभरता है। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय नया–नया बना था। एक कमरे में कुछ अलमारियां रख उसे पुस्तकालय का रूप देने का प्रयास किया जा रहा था। जब वह कमरा भी नहीं था तो क्या पढ़ा जाय यह समस्या थी। बिना पढ़े रहा नहीं जा रहा था। अपना स्वभाव कैसे बदलता। इधर–उधर से पता किया। वहां एक गीता–भवन था। उसमें सभी पुराण रखे हुए थे। बस फिर क्या था। पढ़ने की सामग्री मिल गई। वहां से वामन पुराण उठा लाया। उसे आद्योपान्त पढ़ डाला और एक लेख लिख डाला "वामन पुराण में काव्यच्छटा।" इससे

पहले दिल्ली के हंसराज कालेज में जब नियुक्त हुआ तो बी.ए. के पाठ्यक्रम में तब योगवासिष्ठ का चूडालोपाख्यान पाठ्यक्रम में लगा हुआ था। विद्यार्थियों की सुविधा के लिये यद्यपि उसे अलग से प्रकाशित कर दिया गया था तो भी मैं आनन्दबोधयति की तात्पर्यप्रकाश टीका के साथ निर्णयसागर प्रैस मुम्बई से लगभग दो सहस्र पृष्ठों में दो वृहदाकार खण्डों में छपा योगवासिष्ठ खरीद लाया और उसे पढ़ने लग गया। उस समय मुझे क्या पता था कि एक छोटे से आख्यान से प्रारम्भ हुआ यह अनुशीलन मेरे जीवन भर के अध्ययन का विषय बन जायगा।

एक और स्मृति यहां स्मृतिपटल पर उभरती है। मैं हंसराज कालेज में प्राध्यापक था। १९५६ की बात है। तब डा. राजेन्द्र प्रसाद भारत के राष्ट्रपति थे। सुप्रसिद्ध भारतीय विद्या विशेषज्ञ डा. वासुदेवशरण अग्रवाल उनके अन्तरंग मित्र थे। वे पं. मधुसूदन ओझा की परम्परा के जयपुर के पण्डित मोतीलाल शास्त्री की वैदिक व्याख्या पद्धति से बहुत प्रभावित थे। उनके कहने पर डा. राजेन्द्र प्रसाद ने राष्ट्रपति भवन में उनके व्याख्यान रखवाये। व्याख्यान से पूर्व नार्थ एवेन्यू के आखिरी कोने के, जहां से राष्ट्रपति भवन सामने ही पड़ता है, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के क्वार्टर पर लोग एकत्रित होते थे और फिर एक साथ पैदल ही राष्ट्रपति भवन की ओर चल देते थे। उनमें होते थे पण्डित मोतीलाल शास्त्री, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ. नगेन्द्र, दद्दा (श्री मैथिलीशरण गुप्त) और मैं। भाषणों का कार्यक्रम चल रहा था। एक दिन भाषण के लिये जाने से पूर्व पण्डित मोतीलाल शास्त्री रो पड़े। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के कारण पूछने पर वे बोले मेरा ज्ञान मेरे साथ ही चला जायगा। डॉ. अग्रवाल बोले कोई शिष्य चाहिए क्या? पण्डित मोतीलाल शास्त्री चिहुंक उठे– हां। डॉ. अग्रवाल ने मेरा कन्धा पकड़ा और मुझे आगे बढ़ाते हुए कहा– यह लीजिये शिष्य आप को दे रहा हूं। ले जाइये इसे। मोतीलाल शास्त्री जी का चेहरा खिल उठा। जैसे उन्हें कोई निधि मिल गई हो। उनकी योजना के अनुसार मुझे उनके घर जयपुर में रहना था और उनसे उनकी वैदिक व्याख्या पद्धति को सीखना था। मैं घर आया और मां और बाबूजी को सारी घटना के बारे में बताया। मां बिलख उठीं– यह नहीं हो सकता। नौकरी छोड़–छाड़ कर लड़का दूसरे के घर रहने लगे यह उन्हें सहन नहीं था। मैं मां का दिल दुखाना नहीं चाहता था। मोतीलाल शास्त्री जी के यहां न जा पाया। कुछ समय बाद पता चला कि वे इस संसार में नहीं रहे। उनका ज्ञान उन्हीं के साथ चला गया। मैं उसे ले न पाया। काश शंकराचार्य की तरह मैं भी माया–मकर की सृष्टि कर मां से मुक्ति पा सका होता और पं. मोतीलाल शास्त्री के ज्ञान को साक्षात् उनसे प्राप्त किया होता। पर यह मेरे भाग्य में नहीं लिखा था। मुझे जहां इस बात का दुख है कि मैं ज्ञान प्राप्त न कर सका वहां इस बात का सुख भी कि डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का मेरे प्रति कितना अपनापन था कि उन्होंने जैसे कोई अपनी चीज़ हो मुझे शास्त्री जी को सौंप दिया था। साथ ही यह विश्वास भी था कि मैं ज्ञान को आत्मसात् कर सकूंगा। दद्दा के घर पर एकत्रित होने वाले वयोवृद्ध महारथियों के बीच मात्र २६ वर्ष का नवयुवक केवल मैं ही होता था। आज जब इसे याद करता हूं तो सिहर उठता हूं।

दृश्य बदलता है। एक और दृश्य स्मृतिपटल पर उभरता है। १९८९ की बात है। श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् का प्रणयन पूरा हुआ ही था। तब मैं बैंकाक में था। उन्हीं दिनों यूनेस्को के क्षेत्रीय निदेशक मेरे घर पधारे। महाकाव्य की चर्चा चली। मैंने उन्हें बताया कि मैं इसकी पाण्डुलिपि टाइप होने के लिए भारत भेज रहा हूं क्योंकि देवनागरी टाइप की सुविधा बैंकाक में नहीं है। फिर मैंने उन्हें बताया कि इसके प्रणयन करते समय एक अक्षर का तो क्या, एक मात्रा का भी परिवर्तन मैंने नहीं किया है। इसलिए मुझे इसकी 'फेयर कापी' बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। जो मेरा

'ड्राफ्ट' है वही मेरे 'फेयर कापी' है। अब मैं इसी को टाइप के लिए भारत भिजवा रहा हूँ। परिहास
में मैंने कहा यदि यह डाक में इधर–उधर हो गई तो ग्रन्थ ही लुप्त हो जाएगा। इस पर घबराकर
उन्होंने कहा भगवान् के लिए कभी ऐसा मत कीजिएगा। मेरे कार्यालय में आप आ जाइएगा और
जितनी भी 'फोटोकापी' इसकी चाहिए होंगी मैं बनवा दूंगा। टाइप के लिए आप 'फोटोकापी' ही
भेजिएगा, मूल प्रति नहीं। इसे आप अपने पास सुरक्षित रखिएगा। आगे आने वाली पीढ़ियों को यह
जतलाने के लिए कि किस तरह पच्चीस सर्गों का एक महाकाव्य कहीं कुछ भी परिवर्तन–संशोधन
किए बिना, एक मात्रा के हेर–फेर के भी बिना और वह भी संस्कृत भाषा में लिखा जा सकता है।
बाद में जब इस घटना के बारे में उड़ीसा के एक महान् साधक प्रो. गौरी कुमार ब्रह्मा को मैंने
बताया तो कुछ क्षणों के लिए वे योग निद्रा में चले गए और तब अधमुँदी आँखों से उन्होंने कहा–
आचार्यवर, आपने यह ग्रन्थ नहीं लिखा, एक दैवी शक्ति आपमें प्रवेश कर गई थी, उसने यह ग्रन्थ
आपसे लिखवा दिया। कितने सटीक थे उनके शब्द। इस तरह के महान् कार्य दैवी प्रेरणा से ही
होते हैं। रामायण के विषय में कहा गया है कि ब्रह्मा जी वाल्मीकि जी के आश्रम में प्रकट हुए और
उन्होंने रामकथा के गान के लिए उन्हें कहा। लोग कहते हैं यह मिथक है। मैंने इस मिथक को
अपने जीवन में चरितार्थ होते देखा है।

इस संसार में यह भी देखा गया है कि कभी–कभी मात्र एक कहानी या एक निबन्ध या
एक लेख लेखक को अनछुई ऊंचाइयों तक ले जाता है। हिन्दी में तो सभी को ज्ञात है कि किस
तरह एक कहानी ने लेखक को अमर बना दिया था। मेरे साथ भी कुछ ऐसा ही घटित हुआ।
१९७५ की बात है। इटली के टोरीनो नगर में विश्व संस्कृत सम्मेलन का आयोजन था। मैं उसमें
भाग लेने वहां गया था। नियमानुसार आध घण्टा वहां विषय प्रस्तुति के लिए दिया जाता था और
पन्द्रह मिनट प्रश्नोत्तर के लिए। मेरी प्रस्तुति प्रातः दस बजे से प्रारम्भ होकर साढ़े दस बजे तक
चलनी थी। १०–४५ तक प्रश्नोत्तर भी समाप्त हो जाने थे। विषय मेरा था संस्कृत में पर्यायवाची
शब्द। पहली बार इस विषय पर विचार हो रहा था। मेरा मत है कि कोश ग्रन्थों में जो भी शब्द
पर्यायवाची रूप में परिगणित हैं वे वस्तुतः पर्यायवाची नहीं हैं। उनमें कहीं न कहीं अर्थ भेद अवश्य
है, चाहे वह कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो। कन्साइज़ ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के संकलयिता एच्.
डब्ल्यू. फ़ाउलर ने अपने प्रारम्भिक वक्तव्य में लिखा है कि There are mo two perfect
synonyms in the English language. उन्हीं की तर्ज पर मेरा भी मानना है कि संस्कृत
भाषा में सही-सही रूप में कोई भी शब्द पर्यायवाची नहीं हैं। इस विषय में मेरी प्रवृत्ति किस तरह
हुई इसकी चर्चा यहां अप्रासंगिक होगी। जब मैं वाल्मीकि रामायण के भाषा शास्त्रीय अध्ययन पर
कार्य कर रहा था तो मैंने पाया कि वाल्मीकि अनेकानेक स्थलों पर तथाकथित पर्यायवाची शब्दों का
एक साथ प्रयोग कर देते हैं। तां विनाऽथ विहंगोऽसौ पक्षी प्रणदितस्तदा – विहंगः और पक्षी। उनमें
से अवश्य एक विशेषण है होना चाहिए और एक विशेष्य– विहंगः पक्षी आकाश में उड़ने वाला पक्षी।
तब मैं संस्कृत वाङ्मय के उन सब स्थलों को तलाशने में लग गया जहां तथाकथित पर्यायवाची
शब्द सहप्रयुक्त हैं। इसी सन्दर्भ में महाभाष्यकार की एक उक्ति मेरी दृष्टि में आई जहां उन्होंने
कोप और क्रोध के अन्तर को स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कोप आन्तरो धर्मः, क्रोधश्चक्षूरागादिना
परिदृश्यो बाह्यः, कोप भीतर की प्रक्रिया है, क्रोध उसका बाह्य स्वरूप है जोकि आंखें लाल हो जाने
से, भंवे तन जाने आदि से प्रकट होता है। इसी के आगे उन्होंने कहा है– नह्यकुपितः क्रुध्यति, बिना
कुपित हुए व्यक्ति क्रुद्ध नहीं होता। इसी प्रकार भागवतपुराण में कहा है–
उद्यानोपवनारामैर्वृतपद्माकरश्रियम्। इसकी व्याख्या में श्रीधरस्वामी ने कहा है– उद्यानानि

पुष्पप्रधानानि, उपवनानि फलप्रधानानि आरामाः क्रीडार्थानि वनानि इति यावत्, उद्यान वे हैं जिनमें पुष्पों का प्राधान्य होता है, उपवन वे हैं जिनमें फूलों का प्राधान्य होता है, आराम खेल–कूद के बाग होते हैं। इस प्रकार मैं उदाहरण पर उदाहरण देता चला गया। मेरी प्रस्तुति ने सम्पूर्ण सम्मेलन को दो वर्गों में बांट दिया। एक वर्ग जिसमें डा. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, डा. ऑस्कर बोत्तो, डा. ए.के. वार्डर, डा. इन्स्लर जैसे विद्वान् मेरा समर्थन कर रहे थे दूसरे वर्ग में डा. राघवन्, डा. एलेक्स वेमेन जैसे विद्वान् अपनी असहमति जता रहे थे। अपनी प्रस्तुति की समाप्ति पर मैंने कहा था कि मैंने केवल विषय का दिग्दर्शन मात्र कराया है। मेरे पास इतनी सामग्री है कि मैं एक मोनोग्राफ़ इस पर प्रकाशित कर सकता हूं। इसे लक्षित कर कनाडा के वयोवृद्ध मनीषी प्रो. ए. के. वार्डर ने कहा कि जीवन भर मेरी मान्यता रही है कि पर्यायवाची रूप में कहे जाने वाले शब्दों में अर्थ भेद है पर मेरे पास प्रमाण नहीं था। मुझे लक्षित कर उन्होंने कहा कि इन्होंने आज प्रमाण उपस्थित कर दिये हैं। इन्होंने कहा है कि इनके पास इतनी सामग्री है कि वे एक मोनोग्राफ़ इस पर लिख सकते हैं। मोनोग्राफ़ एक लघु कृति होती है। मैं चाहता हूं कि वे एक बृहद् कृति लिखें और मैं यह भी चाहता हूं कि मेरा इतना दीर्घ जीवन हो कि मैं उसे मुद्रित रूप में देख सकूं। मेरी प्रस्तुति पर चर्चा ढ़ाई घण्टे तक चली। एक बज गया। भोजनावकाश हो गया। सम्मेलन का सारा कार्यक्रम अस्त–व्यस्त हो गया। चर्चा समाप्त होने तक मैं अन्तर्राष्ट्रीय रंगमञ्च पर प्रतिष्ठित हो चुका था।

अब जिन विषयों पर मेरा कार्य चल रहा है उनकी संक्षेप में मैं चर्चा करना चाहूंगा। थाईलैण्ड में जब मैं था तो वहां के प्राचीन हिन्दू मन्दिरों के परिदर्शन के प्रसंग से मुझे उसके लगभग हर भाग में जाने का अवसर मिला। गांव–गांव में मैं घूमता फिरा। उसी प्रसंग में अनेक संस्कृत अभिलेख मेरी दृष्टि में आये। चित्र मैंने उनके लिये। प्राचीन लिपियां सीखीं और उन्हें पढ़ा। १३६ संस्कृत अभिलेख अब तक मेरे हाथ लगे हैं। उनके अंग्रेज़ी अनुवाद का कार्य मैंने कर लिया है। सम्प्रति उनके ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक , भाषाशास्त्रीय तथा काव्यशास्त्रीय विवेचन में मैं लगा हूं। कार्य जटिल है। अनेक स्थानों पर पाठ त्रुटित हो गया है, अक्षर घिस जाने के कारण अस्पष्ट हो गये हैं। अनेक बार पूर्वापर समन्वय के साथ उनका पुनरुद्धार करना होता है जिसमें घण्टों लग जाते हैं।

दूसरा मेरा कार्य दक्षिण–पूर्व एशिया में राम–कथा पर है। मैंने अपने कार्य को दक्षिणपूर्व एशिया के प्रत्येक देश के हिसाब से तीन भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में उस देश के साहित्य में रामकथा की चर्चा है। दूसरे भाग में उस देश की कला में रामकथा के निरूपण का विवरण है। कला को दो भागों में मैंने विभक्त किया है– दृश्यांकन और नृत्य–नाट्य, प्लास्टिक आर्ट तथा पर्फौर्मिंग आर्ट। दृश्यांकन को दो भागों में विभक्त किया है– चित्रांकन पेण्टिंग; मूर्ति, स्कल्चर। मूर्ति को भी दो भागों में विभक्त किया है– प्रस्तरोत्कीर्ण, स्टोन कार्विंग और काष्ठोत्कीर्ण वुड कार्विंग। प्रस्तरोत्कीर्ण में कम उभरी खुदाई की मूर्तियों, बा रिलीफ्स, को पृथक् से लिया है। तृतीय भाग में उस देश के लोक–साहित्य और लोक जीवन, फोकलोर, में रामकथा की चर्चा है। इस संक्षिप्तिका से ही आपको पता चल गया होगा कि कितना विशालकार्य मैंने अपने हाथ में ले रखा है। राम कथा से सम्बद्ध चित्रों का विशाल भण्डार मेरे पास है जो स्वयं तत्तत्स्थानों पर जाकर मैंने लिये हैं। कुछ तो इनमें से अत्यन्त दुर्लभ्य हैं, इतने दुर्लभ्य कि वे अब इतिहास की वस्तु बन चुके हैं। लाओस की राजधानी वियन्तियन में वात ऊप मअङ् नाम का एक बौद्ध विहार है। उसके एक भवन की दीवारों पर रेखाचित्रों के माध्यम से राम कथा अंकित है– सिलसिलेवार नहीं, आगे की घटना पहले, पहले की घटना आगे। मैंने इन सभी रेखाचित्रों की स्लाइडें बना लीं। अभी हाल

में पता चला कि वह भवन गिरने–गिरने को हो रहा था। कोई दुर्घटना न घट जाय यह सोच लाओ सरकार ने उसे गिरा दिया। मेरे विशाल चित्र भण्डार में कुछेक जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं को प्रस्तावित पुस्तक में समाविष्ट करने की मेरी योजना है। कार्य पर्याप्त प्रगति पर है। अगले सात–आठ महीनों में इसके पूर्ण हो जाने की आशा है।

दक्षिण पूर्व एशिया के विभिन्न देशों में जब मैं यात्रा पर जाता था तो वहां के शहरों, गांवों, पहाड़ों, नदियों आदि के नामों को भी देखता जाता था और चमत्कृत होता जाता था यह देखकर कि उनमें से कितने ही संस्कृत–मूलक हैं। उनमें से अनेक उच्चारण भेद के कारण अपने मूल संस्कृत स्वरूप से बहुत दूर चले गये हैं। उन्हें संस्कृत से संयोजित करने के लिये सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है। एक बार मैं थाईलैण्ड के भीतरी भाग में जा रहा था। कार में मेरे साथ मेरे वहां के एक सहयोगी संस्कृताध्यापक भी थे। एक जगह नाम– पट्ट पर थाई में एक स्थान का नाम लिखा था। मेरे थाई सहयोगी ने मुस्कुरा कर मेरी ओर देखा और कहा– आचार्यवर! आप समझ गए। मैंने कहा समझ गया। थाई में लिखा था फियाक्फूमफिसाइ। यह संस्कृत शब्द है व्याघ्रभूमिविषय। उच्चारण ने इसे संस्कृत से कितना दूर पहुंचा दिया था। इसी तरह में कहीं जा रहा था। मेरे साथ थीं मेरी पीएच्. डी. की छात्रा, सम्प्रति बैंकाक राष्ट्रिय संग्रहालय की महानिदेशिका डा. अमरा स्रीसुछात। एक पहाड़ी थी। नामपट्ट पर उसका नाम लिखा था– खिरि मात्। खिरि तो मैं समझ गया। संस्कृत का गिरि शब्द है। थाई में ग ख की तरह उच्चारित होता है। पर मात् मैं नहीं समझ पाया। अमरा ने कहा कि यह भी संस्कृत शब्द ही है। थाई भाषा में इसका अर्थ है स्वर्ण। गिरि स्वर्ण अथवा स्वर्ण गिरि अर्थात् मेरु पर्वत। माष शब्द का स्वर्ण के अर्थ में प्रचलित संस्कृत में प्रयोग नही ंके बराबर है। बहुत खोजने पर शतपथ ब्राह्मण में इस अर्थ में इसका प्रयोग मिला। मैं चकित था कि किस तरह वैदिक काल का एक शब्द स्थान विशेष के नाम के साथ आज भी थाई में प्रयोग में आ रहा है। इण्डोनेशिया में द्वीपों के अधिकांश नाम संस्कृतनिष्ठ हैं। जावा यवद्वीप है, सुमात्रा स्वर्णद्वीप है केड्डाह कटाहद्वीप है। राजधानी जकर्ता संस्कृत जयकर्ता है, जोग्जकर्ता, अयोध्याकर्ता है, सुलवासी शूलवासी है। लाओस और थाईलैण्ड के बीच बहने वाला महानद मेकांग जो विश्व के सात महानदों में है मातृ गंगा है, मेय् = मां, कौङ्, गंगा, मां गंगा, गंगा मैया। थाईलैण्ड का फूकेत भूक्षेत्र है। खोराट गोराष्ट्र है, थौन बुरी धनपुरी है। शतशः – सहस्रशः स्थानों के नाम संस्कृत मूलक हैं। कई बार मन में तरंग आती है कि दक्षिण पूर्व एशिया के विशाल और व्यापक अनुभव के आधार पर दक्षिणपूर्व एशिया में स्थानों के संस्कृत मूलक नाम Sanskrit Place Names in Saoutheast Asia, की बृहद योजना का कार्य को अपने हाथ में लूं। फिर अपनी बढ़ती उम्र और क्षीण स्वास्थ्य को देखते हुए सहम जाता हूं। करने को बहुत कुछ है। कुछ मैं कर पाया, कुछ करने की ललक है। शायद भगवान् मेरी यह ललक भी पूरी कर दें।

स्वान्तः सुखााय मैं विश्वमहाकाव्यम् के नाम से विश्व की प्रमुख सांस्कृतिक धाराओं पर नाना खण्डों के महाकाव्य का प्रणयन भी कर रहा हूं। उसके दो तीन प्रारम्भिक पद्य आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूं–

देशैरनेकैर्लघुभिर्बृहद्भि–
र्नाना जनैरध्युषितैर्विचित्रैः।
अङ्गे गजानां रचितेव भक्ति–
र्विचित्ररूपा जगती विभाति।

प्रत्येकमेषु प्रसभं प्रवृत्तं
कालप्रभावाद् बहुवृत्तचक्रम्।
नूत्नां दिशं यद् गमयाम्बभूव
तदीयमैतिह्यभरं बलेन।।
तद्वृत्तचक्रस्य निरूपणायां
गीर्वाण्यवाण्याऽहमभिप्रवृत्तः।
कार्यस्य कार्यस्य सुदुष्करत्वात्
कुलालचक्रभ्रमवद् भ्रमामि।।
तथापि नुन्नः प्रबलेच्छयैव
कार्यं सुदःसाधमहं चिकीर्षन्।
दोर्भ्यां प्रतर्तुं जलधिं विशालं
यादोभिराक्रान्तमहं प्रवृत्तः।।
तत्साहसं मे विबुधाः क्षमन्तां
पश्यन्तु मां चापि शिवेक्षणेन।

आज आप सब से अपनी बात कह अपने को बहुत हल्का अनुभव कर रहा हूं। अपने हृदय को उद्घाटित कर सका इससे मुझे बहुत सुख मिला। कभी कभार ही ऐसे अवसर आते हैं जब अपने मन की बात व्यक्ति किसी से कह पाता है। साहित्य अकादमी ने आज वह असवसर प्रदान किया इसके लिये उसका कृतज्ञ हूं। साथ में आप सभी का भी जिन्होंने धैर्यपूर्वक मेरी बात को सुना। इससे मुझे बहुत बल मिला। इस बल से मुझे लगता है कि मेरे आधे–अधूरे कार्य पूरे हो सकेंगे। मेरा आप सभी को शत–शत वन्दन।